ऋषभदेवसे वर्तमान तक जैनधर्मकी स्थिति

प्रायः धर्मकी सभी मान्यताओंमें अमर्यादित कालको मर्यादित अनन्तकल्पोंके रूपमें विभक्त किया गया है, लेकिन किन्हीं-किन्हीं मान्यताओंमें जहाँ इस दृश्यमान् जगत्की अस्तित्वस्वरूप और अभावस्वरूप प्रलयको आधार मानकर एक कल्पकी सीमा निर्धारित की गई है, वहाँ जैन मान्यतामें प्राणियोंके दुःखके साधनोंकी क्रमिक हानि होते-होते सुखके साधनोंकी क्रमिक वृद्धिस्वरूप उत्सर्पण और प्राणियोंके सुखके साधनोंकी क्रमिक हानि होते-होते दुःखके साधनोंको क्रमिक वृद्धिस्वरूप अवसर्पणको आधार मानकर एक कल्पकी सीमा निर्धारित की गई है।

तात्पर्य यह कि धर्मकी किन्हीं-किन्हीं जैनेतर मान्यताओंके अनुसार उनके माने हुए कारणों द्वारा पहले तो यह जगत् उत्पन्न होता है और पश्चात् यह विनष्ट हो जाता है। उत्पत्तिके अनन्तर जबतक जगत्का सद्भाव बना रहता है उतने कालका नाम सृष्टिकाल और विनष्ट हो जानेपर जबतक उसका अभाव रहता है उतने कालका नाम प्रलयकाल माना गया है। इस तरहसे एक सृष्टिकाल और उसके अनन्तर होनेवाले एक प्रलयकालको मिलाकर इन मान्यताओंके अनुसार एक कल्पकाल हो जाता है। जैन मान्यतामें इन मान्यताओंकी तरह जगत्का उत्पाद और विनाश नहीं स्वीकार किया गया है। जैन मान्यतामें जगत् तो अनादि और अनिधन है, परन्तु रात्रिके बारह बजेसे अन्धकारका क्रमपूर्वक ह्रास होते-होते दिनके बारह बजे तक प्रकाशकी क्रमपूर्वक होनेवाली वृद्धिके समान जैन मान्यतामें जितना[1] काल जगत्के प्राणियोंके दुःखके साधनोंका क्रमपूर्वक ह्रास होते-होते सुखके साधनोंकी क्रमपूर्वक होनेवाली वृद्धिस्वरूप उत्सर्पणका बतलाया गया है उतने कालका नाम उत्सर्पिणीकाल और दिनके बारह बजेसे प्रकाशका क्रमपूर्वक ह्रास होते-होते रात्रिके बारह बजे तक अन्धकारकी क्रमपूर्वक होनेवाली वृद्धिके समान वहाँपर (जैन मान्यतामें) जितनाकाल[2] जगत्के प्राणियोंके सुखके साधनोंका क्रमपूर्वक ह्रास होते-होते दुःखके साधनोंकी क्रमपूर्वक होनेवाली वृद्धिस्वरूप अवसर्पणका बतलाया गया है उतने कालका नाम अवसर्पिणीकाल स्वीकार किया गया है। एक उत्सर्पिणीकाल और उसके अनन्तर होनेवाले एक अवसर्पिणीकालको मिलाकर जैन मान्यताका एक कल्पकाल हो जाता है।[3] चूँकि उक्त दूसरी मान्यताओंमें सृष्टिकाल और प्रलयकालकी परम्पराको पूर्वोक्त सृष्टिके बाद प्रलय और प्रलयके बाद सृष्टिके रूपमें तथा जैनमान्यतामें उत्सर्पिणीकाल और अवसर्पिणीकालकी परम्पराको पूर्वोक्त उत्सर्पणके बाद अवसर्पण और अवसर्पणके बाद उत्सर्पणके रूपमें अनादि अनन्त स्वीकार किया गया है, इसलिए उभय मान्यताओंमें (जैन और जैनेतर मान्यताओंमें) कल्पोंकी अनन्तता समानरूपसे मान ली गई है।

जैन मान्यतामें प्रत्येक कल्पके उत्सर्पिणी काल और अवसर्पिणी कालको उत्सर्पण और अवसर्पणके खंड करके निम्नलिखित छह-छह विभागोंमें विभक्त कर दिया गया है—(१) दुःषम[4]–दुःषमा (अत्यन्त दुःखमय

---

१. यह काल जैन ग्रन्थोंके आधारपर दश कोटी-कोटी सागरोपमसमयप्रमाण है। कोटी (करोड़)को कोटी (करोड़)से गुणा कर देनेपर कोटी-कोटीका प्रमाण निकलता है और सागरोपम जैनमान्यताके अनुसार असंख्यात वर्षप्रमाण कालविशेषकी संज्ञा है।

२. यह काल भी जैन ग्रन्थोंमें दश कोटी-कोटी सागरोपमसमयप्रमाण ही बतलाया गया है।

३. आदिपुराण पर्व ३, श्लोक १४-१५।

४, इक्कीस हजार वर्षप्रमाण।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काल), (२) दुःषमा[1] (साधारण दुःखमय काल), ३—दुःषम-सुषमा[2] (दुःख प्रधान सुखमय काल), ४—सुषम-दुःषमा[3] (सुखप्रधान दुःखमय काल), ५—सुषमा[4] (साधारण सुखमय काल) और ६—सुषम-सुषमा[5] (अत्यन्त सुखमय काल)। ये छह[6] विभाग उत्सर्पिणी कालके तथा इनके ठीक विपरीत क्रमको लेकर अर्थात् १—सुषम-सुषमा[7] (अत्यन्त सुखमय लाल), २—सुषमा[8] (साधारण सुखमय काल), ३—सुषम-दुःषमा[9] (सुखप्रधान दुःख-मय काल), ४—दुषमा-सुषमा[10] (दुःखप्रधान सुखमय काल), ५—दुःषमा[11] (साधारण दुःखमय काल) और ६—दुःषम-दुःषमा[12] (अत्यन्त दुःखमय काल) ये छह[13] विभाग अवसर्पिणी कालके स्वीकार किये गये हैं।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सूर्यकी गतिके दक्षिणसे उत्तर और उत्तरसे दक्षिणकी ओर होनेवाले परिवर्तनके आधारपर स्वीकृत वर्षके उत्तरायण और दक्षिणायन विभाग गतिक्रमके अनुसार तीन-तीन ऋतुओंमें विभक्त होकर सतत चालू रहते हैं उसी प्रकार एक दूसरेसे बिलकुल उलटे पूर्वोक्त उत्सर्पण और अपसर्पणके आधारपर स्वीकृत कल्पके उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी विभाग भी उत्सर्पणक्रम और अवसर्पणक्रमके अनुसार पूर्वोक्त छह-छह विभागोंमें विभक्त होकर अविच्छिन्न रूपसे सतत चालू रहते हैं।[14] अथवा रात्रिके बारह बजे से दिनके बारह बजेतक अन्धकारकी क्रमसे हानि होते-होते क्रमसे होनेवाली प्रकाशकी वृद्धिके आधार पर और दिनके बारह बजेसे रात्रिके बारह बजेतक प्रकाशकी क्रमसे हानि होते-होते क्रमसे होनेवाली अन्धकारकी वृद्धिके आधारपर जिस प्रकार चार-चार प्रहरोंकी व्यवस्था पाई जाती है उसी प्रकार उत्सर्पिणी काल और अवसर्पिणी कालमें भी पूर्वोक्त छह-छह विभागोंकी व्यवस्था जैन मान्यतामें स्वीकृत की गई है।

जैनमान्यताके अनुसार प्रत्येक उत्सर्पिणी कालके तीसरे[15] और प्रत्येक अवसर्पिणी कालके चौथे दुःषमा-सुषमा नामक विभागमें धर्मको प्रकाशमें लानेवाले एकके बाद दूसरा और दूसरेके बाद तीसरा इस प्रकार क्रमसे नियमपूर्वक चौबीस तीर्थंकर (धर्मप्रवर्तक महापुरुष) उत्पन्न होते रहते हैं। इस समय जैनमान्यताके अनुसार

---

१. वही।
२. ब्यालीस हजार वर्ष कम एककोटीकोटी, सागरोपमसमयप्रमाण।
३. दोकोटीकोटीसागरोपमसमयप्रमाण।
४. तीनकोटीकोटीसागरोपमसमयप्रमाण।
५. चारकोटीकोटीसागरोपमसमयप्रमाण।
६, अवसर्पिणी कालके समाप्त हो जानेपर जब उत्सर्पिणी कालका प्रारम्भ होता है उस समयका यह वर्णन है—
—तिलोयपण्णत्ती, चौथा महा अधिकार, गाथा १५५५, १५५६।
७. चारकोटीकोटीसागरोपमसमयप्रमाण।
८. तीनकोटोकोटीसागरोपमसमयप्रमाण।
९. दोकोटीकोटीसागरोपमसमयप्रमाण।
१०. ब्यालीस हजार वर्ष कम एककोटीकोटीसागरोपमसमयप्रमाण।
११. इक्कीस हजार वर्ष प्रमाण।
१२. इक्कीस हजार वर्ष प्रमाण।
१३. आदिपुराण पर्व ३, श्लोक १७, १८।
१४. आदिपुराण पर्व ३, श्लोल २०, २१।
१५. उत्सर्पिणी कालके तीसरे दुःषमसुषमा कालका वर्णन करते हुए यह कथन है—
—तिलोयपण्णत्ती, चौथा महाधिकार, गाथा १५७८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कल्पका दूसरा विभाग अवसर्पिणीकाल चालू है और उसके (अवसर्पिणी कालके) पाँचवें दुःषमा नामक विभाग-मेंसे हम गुजर रहे हैं।[१] आजसे करीब ढाई हजार (२५००) वर्ष पहले इस अवसर्पिणीकालका दुःषमा-सुषमा नामक चतुर्थ विभाग समाप्त हुआ है। उस समय धर्मको प्रकाशमें लानेवाले और इस अवसर्पिणीकालके अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर इस धरातलपर मौजूद थे तथा उनके भी पहले पूर्वपरम्परामें तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथसे प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव तक तेईस तीर्थंकर धर्मका प्रकाश कर चुके थे।

तात्पर्य यह है कि जैन मान्यतामें उत्सर्पिणीकालके चौथे, पाँचवें और छठे तथा अवसर्पिणीकालके पहले, दूसरे और तीसरे विभागोंके समुदायको भोगयुग एवं अवसर्पिणीकालके चौथे, पाँचवें और छठवें तथा उत्सर्पिणीकालके पहले, दूसरे और तीसरे विभागोंके समुदायको कर्मयुग बतलाया गया है।[२] भोगयुगका मतलब यह है कि इस युगमें मनुष्य अपने जीवनका संचालन करनेके लिए साधन-सामग्रीके संचय और संरक्षणकी ओर ध्यान देना अनावश्यक ही नहीं, व्यर्थ और यहाँतक कि मानवसमष्टिके जीवन-निर्वाहके लिए अत्यन्त घातक समझता है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य अपने जीवनका संचालन निश्चिन्तता और संतोषपूर्वक सर्वत्र बिखरे हुए प्राकृतिक साधनों द्वारा बिना किसी भेद-भावके समान रूपसे किया करता है। उस समय मानव-जीवनके किसी भी क्षेत्रमें आजकल जैसी विषमता नहीं रहती है। उस कालमें कोई मनुष्य न तो अमीर और न गरीब ही रहता है और न ऊँच-नीचका भेद ही उस समयके मनुष्योंमें पाया जाता है। आहार-बिहार तथा रहन-सहनकी समानताके कारण उस कालके मनुष्योंमें न तो क्रोध, मान, माया और लोभ रूप मानसिक दुर्बलताएँ ही पाई जाती हैं और न हिंसा, झूठ, चोरी व्यभिचार तथा पदार्थोंका संचय रूप परिग्रहमें ही उनकी प्रवृत्ति होती है। लेकिन उत्सर्पिणी कालमें जीवन-संचालनकी साधनसामग्रीमें उत्तरोत्तर वृद्धि होते-होते उसके परा-काष्ठापर पहुँच जानेके बाद जब इस अवसर्पिणीकालमें उसका ह्रास होने लगा और वह ह्रास जब इस सीमा तक पहुँच गया कि मनुष्योंको अपने जीवन-संचालनमें कमीका अनुभव होने लगा तो सबसे पहिले मनुष्योंमें साधन-सामग्रीके संग्रह करनेका लोभ पैदा हुआ तथा उसका संवरण न कर सकनेके कारण धीरे-धीरे माया, मान और क्रोधरूप दुर्बलताएँ भी उनके अन्तःकरणमें उदित हुई और इनके परिणामस्वरूप हिंसा, झूठ, चोरी व्यभिचार और परिग्रह इन पाँच पापोंकी और यथासंभव उनका झुकाव होने लगा। अर्थात् सबसे पहले जीवन-संचालनकी साधनसामग्रीके संचय करनेमें जब किन्हीं-किन्हीं मनुष्योंकी प्रवृत्ति देखनेमें आई[3] तो उस समयके विशेषविचारक व्यक्तियोंने इसे मानव-समष्टिके जीवन-संचालनके लिए जबरदस्त खतरा समझा। इसलिए इसके दूर करने लिए उन्होंने जनमतकी सम्मतिपूर्वक उन लोगोंके विरुद्ध 'हा[४]' नामक दण्ड कायम किया। अर्थात् उस समय जो लोग जीवन-संचालनकी साधन-सामग्रीके संचय करनेमें प्रवृत्त होते थे उन्हें इस दण्डविधानके अनुसार "हमें खेद है कि तुमने मानव-समष्टिके हितके विरुद्ध यह अनुचित कार्य किया है।"—इस प्रकार दंडित किया जाने लगा और उस समयका मानव-हृदय बहुत ही सरल होनेके कारण उसपर इस दंड-

---

१. भगवान ऋषभदेवसे लेकर भगवान महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकर इस अवसर्पिणीकालके चौथे दुःषम-सुषमा कालमें ही हुए हैं।

२. भोगयुग और कर्मयुगका विस्तृत वर्णन आदिपुराणके तीसरे पर्वमें तथा तिलोयपण्णत्तीके चतुर्थ महाधिकार में किया गया है।

३. तिलोयपण्णत्ती, चौथा महाधिकार, गाथा ४५१।

४. वही, गाथा ४५२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विधानका यद्यपि बहुत अंशोंमें असर भी हुआ। लेकिन धीरे-धीरे ऐसे अपराधी लोगोंकी संख्या बढ़ती ही गई। साथ ही उनमें कुछ धृष्टता भी आने लगी। तब इस दंडविधानको निरुपयोगी समझकर इससे कुछ कठोर "मा[1]" नामक दंडविधान तैयार किया गया। अर्थात् खेद प्रकाश करने मात्रसे जब लोगोंने जीवन संचालनकी साधन-सामग्रीका संचय करना नहीं छोड़ा, तो उन्हें इस अनुचित प्रवृत्तिसे शक्तिपूर्वक रोका जाने लगा। अन्तमें जब इस दंडविधानसे भी ऐसे अपराधी लोगोंको बाढ़ न घटी तो फिर 'धिक्[2]' नामका बहुत ही कठोर दंड-विधान लागू कर दिया गया। अर्थात् ऐसे लोगोंको उस समयकी सामाजिक श्रेणीसे बहिष्कृत किया जाने लगा, लेकिन यह दंडविधान भी जब असफल होने लगा, साथ ही इसके द्वारा ऊँच और नीचके भेदकी कल्पना भी लोगोंके हृदयमें उदित हो गई तो इस विषम परिस्थितिमें राजा नाभिके पुत्र भगवान् ऋषभदेव इस पृथ्वीतल-पर अवतीर्ण हुए। इन्होंने बहुत ही गम्भीर चिन्तनके बाद एक ओर तो कर्मयुगका प्रारम्भ[3] किया अर्थात् तत्कालीन मानव-समाजमें वर्णव्यवस्था कायम करके परस्पर सहयोगकी भावना भरते हुए उसको जीवन-संचालन-के लिए यथायोग्य असि[4], मषि, कृषि, सेवा, शिल्प और वाणिज्य आदि कार्योंके करने की प्रेरणा की तथा दूसरी ओर लोगोंकी अनुचित प्रवृत्तिको रोकनेके लिए धार्मिक दंडविधान चालू किया। अर्थात् मनुष्योंको स्वयं ही अपनी—क्रोध, मान, माया और लोभरूप-मानसिक दुर्बलताओंको नष्ट करने तथा हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार और परिग्रह स्वरूप प्रवृत्तिको अधिक-से-अधिक कम करनेका उपदेश दिया। जैन-मान्यताके अनुसार धर्मोत्पत्ति का आदि समय यही है।

धर्मोत्पत्तिके बारेमें जैन-मान्यताके अनुसार किये गये इस विवेचनसे इस निष्कर्षपर पहुँचा जा सकता है कि मानव-समाजमें व्यवस्था कायम करनेके लिए यद्यपि सर्वप्रथम पहले प्रजातंत्रके रूपमें और बादमें राजतंत्रके रूपमें शासनतंत्र ही प्रकाशमें आया था। परन्तु इसमें अधूरेपनका अनुभव करके भगवान ऋषभदेवने इसके साथ धर्मतंत्रको भी जोड़ दिया था। इस तरह शासनतंत्र और धर्मतंत्र ये दोनों तबसे एक दूसरेका बल पाकर फूलते-फलते हुए आज तक जीवित हैं।

यद्यपि भगवान ऋषभदेवने तत्कालीन मानव-समाजके सम्मुख धर्मके ऐहिक और आध्यात्मिक दो पहलू उपस्थित किये थे और दूसरे (आध्यात्मिक) पहलूको पहले से ही स्वयं अपना कर[5] जनताके सामने महान् आदर्श उपस्थित किया था—आज भी हमें भारतवर्षमें साधुवर्गके रूपमें धर्मके इस आध्यात्मिक पहलू-की झांकी देखनेको मिलती है। परन्तु आज मानव-जीवन जब धर्मके ऐहिक पहलूसे ही शून्य है तो वहाँपर उसके आध्यात्मिक पहलूका अंकुरित होना असम्भव ही है। यही कारण है कि प्रायः सभी धर्मग्रंथोंमें आजके समयमें मुक्ति प्राप्तिकी असंभवताको स्वीकार किया गया है। इसलिए इस लेखमें हम धर्मके ऐहिक पहलूपर ही विचार करेंगे।

धर्मके आध्यात्मिक पहलूका उद्देश्य जहाँ जन्म-मरणरूप संसारसे मुक्ति पाकर अविनाशी अनन्तसुख

---

१. ति० प०, गाथा ४७४।

२. आदिपुराण, पर्व ३, श्लोक २१४, २१५।

३. वही, पर्व १६, श्लोक १८३।

४. (क) वही, पर्व १६, श्लोक १७९, १८०।
(ख) प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषूः शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः ॥—स्वयंभूस्तोत्र।

५. विहाय यः सागरवारिवाससं वधूमिवेमां वसुधावधूं सतीम्।
मुमुक्षुरिक्ष्वाकुकुलादिरात्मवान् प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः ॥—स्वयंभूस्तोत्र श्लोक ३, ४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्त करना है वहाँ उसके (धर्मके) ऐहिक पहलूका उद्देश्य अपने वर्तमान जीवनको सुखी बनाते हुए आध्यात्मिक पहलूकी ओर अग्रसर होना है। यह तभी हो सकता है जब कि मानव-समाजमें सुख और शान्तिका साम्राज्य हो। कारण कि मनुष्य स्वभावसे समष्टिगत प्राणी है। इसलिए उसका जीवन मानव-समाजके साथ गुंथा हुआ है। अर्थात् व्यक्ति तभी सुखी हो सकता है जबकि उसका कुटुम्ब सुखी हो, कुटुम्ब भी तब सुखी हो सकेगा जबकि उसके मुहल्लेमें अमन-चैन हो। इसी क्रमसे आगे भी मुहल्लेका अमन-चैन ग्रामके अमन-चैनपर, ग्रामका अमन-चैन प्रान्तके अमन-चैनपर और प्रान्तका अमन-चैन देशके अमन-चैनपर ही निर्भर है तथा आज तो प्रत्येक देशके ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित हो चुके हैं कि एक देशका अमन-चैन दूसरे देशके अमन-चैनपर निर्भर हो गया है। यही कारण है कि आज दुनियाके विशेषज्ञ विश्व-संघकी स्थापनाकी बात करने लगे हैं, लेकिन विश्वसंघ तभी स्थापित एवं सार्थक हो सकता है जबकि मानव अपनी क्रोध, मान, माया और लोभरूप मानसिक दुर्बलताओंको नष्ट करना अपना कर्त्तव्य समझ ले। साथ ही अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहताको अपने जीवनमें समाविष्ट कर ले। इसके बिना न तो विश्वसंघकी स्थापना हो सकती है और न दुनियामें सुखशान्तिका साम्राज्य ही कायम हो सकता है। महात्मा गाँधीजीने विश्वमें शान्ति स्थापित करनेके लिए इसी बातको आज विश्वके सामने रखा है, परन्तु यह विश्वका दुर्भाग्य है कि उसका लक्ष्य अभी इस ओर नहीं है।

इस प्रकार भगवान ऋषभदेवने जिस धर्मको आत्मकल्याण और विश्वमें व्यवस्था कायम करनेके लिए चुना था, वह क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारोंसे शून्य मानसिक पवित्रता तथा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहता विशिष्ट बाह्यप्रवृत्ति स्वरूप है। हम देखते हैं कि आज भी इसकी उपयोगिता नष्ट नहीं हुई है और भविष्यमें तो मानव-समष्टिमें मानवताके विकासका यही एक अद्वितीय चिह्न माना जायगा। भगवान ऋषभदेवसे लेकर चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर पर्यन्त सब तीर्थंकरोंने भगवान ऋषभदेव द्वारा प्रतिपादित इसी धर्मका प्रकाश एवं समुत्थान किया है। इनके अतिरिक्त आगे या पीछे जिन महापुरुषोंने धर्मके बारेमें कुछ शोध की है वह भी इससे परे नहीं हैं। अर्थात् न केवल भारतवर्षके, अपितु विश्वके किसी भी महापुरुष द्वारा जब कभी धर्मकी आवाज बुलन्द की गई, उस धर्मकी परिभाषा भगवान ऋषभदेव द्वारा प्रतिपादित धर्मको परिभाषासे भिन्न नहीं है। इसका कारण यह है कि एक ही देशमें रहनेवाली भिन्न-भिन्न मानवसमष्टियोंकी तो बात ही क्या, दुनियाके किसी भी कोनेमें रहने वाले मनुष्योंकी जीवनसम्बन्धी आवश्यकताओंमें जब भेद नहीं किया जा सकता है तो उनके धर्ममें भेद करना मानवसमष्टिके साथ घोर अन्याय करना है। इसलिए धर्मके जैन, बौद्ध, वैदिक, इस्लाम, क्रिश्चियन इत्यादि जो भेद किये जाते हैं, ये सब किसी हालतमें धर्मके भेद नहीं माने जा सकते हैं। धर्मरूप वस्तु तो इन सबके अन्दर एक रूप ही मिलेगी और हमें इनके अन्दर जो कुछ भेद दिखलाई देता है वह भेद या तो धर्मका प्रतिपादन करने या उसके प्राप्त करनेके तरीकोंका है या फिर वह अधर्म ही कहा जायगा।

इस तरह अपने जीवनको सुख-शान्तिमय बनानेके उद्देश्यसे मानव-समष्टिमें सुख-शान्तिका वातावरण लानेके लिए प्रत्येक मनुष्यको जिस प्रकार अपनी क्रोध, मान, माया, लोभ आदि मानसिक दुर्बलताओंको कम करना तथा हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार और परिग्रहस्वरूप प्रवृत्तिको रोकना आवश्यक है उसी प्रकार परस्पर सौहार्द्र, सहानुभूति और सहायता आदि बातें भी आवश्यक हैं। इसलिए इन सब बातोंका समावेश भी धर्मके ही अन्दर किया गया है। इसके अतिरिक्त अपने जीवनको सुखी बनानेमें शारीरिक स्वास्थ्यको भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। अतः शारीरिक स्वास्थ्य-सम्पादनके लिए जो नियम-उपनियम उपयोगी सिद्ध होते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं उन्हें भी जैन-मान्यताके अनुसार धर्मकी कोटिमें रखा गया है। जैसे पानी छानकर पीना, रात्रिमें भोजन नहीं करना, मद्य, मांस और मधुका सेवन नहीं करना, असावधानीसे तैयार किया हुआ भोजन नहीं करना, भोजनमें ताजा और ससत्त्व आटा, चावल, साग-फल आदिका उपयोग करना, उपवास या एकाशन करना, उत्तम संगति करना आदि इन सब प्रवृत्तियोंको धर्मरूप ही मान लिया गया है तथा ऐसी प्रवृत्तियोंको अधर्म या पाप मान लिया गया है, जिनके द्वारा साक्षात् या परंपरासे हमारे शारीरिक स्वास्थ्यको हानि पहुँचनेकी सम्भावना हो या जो हमारे जीवनको लोकनिंद्य और कष्टमय बना रही हों। जुआ खेलना, शिकार खेलना और वेश्यागमन आदि प्रवृत्तियाँ इस अधर्मकी ही कोटिमें आ जाती हैं। जैन मान्यताके अनुसार अभक्ष्यभक्षण-को भी अधर्म कहा गया है और अभक्ष्यकी परिभाषामें उन चीजोंको सम्मिलित किया गया है, जिनके खानेसे हमें कोई लाभ न हो अथवा जिनके तैयार करनेमें या खानेमें हिंसाका प्राधान्य हो अथवा जो प्रकृतिविरुद्ध हों या लौकिक दृष्टिसे अनुपसेव्य हों। जैन मान्यताके अनुसार अधिक खाना भी अधर्म है और अनिच्छापूर्वक कम खाना भी अधर्म है। तात्पर्य यह है कि मानव-जीवनकी प्रत्येक प्रवृत्तिको जैन-मान्यतामें धर्म और अधर्म-की कसौटीपर कस दिया गया है। आज भले ही पचड़ा कहकर इन सब बातोंके महत्त्वको कम करनेकी कोशिश की जाय, परन्तु इन सब बातोंकी उपयोगिता स्पष्ट है। पूज्य गाँधीजीका भोजनमें हाथ-चक्कीसे पिसे हुए ताजे आटेका और हाथसे कूटे गये चावलका उपयोग करनेपर जोर देना तथा प्रत्येक व्यक्तिको अपनी प्रत्येक प्रवृत्तिमें आवश्यकता, सादगी, स्वच्छता, सच्चाई आदि बातोंपर ध्यान रखनेका उपदेश देना इन बातोंकी उपयोगिताका ही दिग्दर्शन है।

इस प्रकार जैन समाज जहाँ इस बातपर गर्व कर सकती है कि उसकी मान्यतामें मानव-जीवनको छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी प्रत्येक प्रवृत्तिको धर्म और अधर्मकी मर्यादामें बाँधकर विश्वको सुपथपर चलनेके लिए सुगमता पैदा की गई है, वहाँ उसके लिए यह बड़े सन्तापकी बात है कि इन सब बातोंका जैन समाजके जीवनमें प्रायः अभाव-सा हो गया है और दिन-प्रतिदिन होता जा रहा है तथा जैन समाजकी क्रोधादि कषायरूप परिणति और हिंसादि पापमय प्रवृत्ति आज शायद ही दूसरे समाजोंकी अपेक्षा कम हो। जो कुछ भी धार्मिक प्रवृत्ति आज जैन समाजमें मौजूद है वह इतनी अव्यवस्थित एवं अज्ञानमूलक हो गई है कि उस प्रवृत्तिको धर्मका रूप देनेमें संकोच होता है।

जैन समाजमें पूर्वोक्त धर्मको अपने जीवनमें न उतारनेकी यह एक बुराई तो वर्तमान है ही, इसके अतिरिक्त दूसरो बुराई जो जैन समाजमें पाई जाती है, वह है खाने-पीने इत्यादिके छुआ-छूतके भेद की। जैन समाजमें वह व्यक्ति अपनेको सबसे अधिक धार्मिक समझता है, जो खाने-पीने आदिमें अधिक-से-अधिक छुआ-छूतका विचार रखता हो। परन्तु भगवान ऋषभदेवने द्वारा स्थापित और शेष तीर्थंकरों द्वारा पुनरु-ज्जीवित धर्ममें इस प्रकारके छुआछूतको कतई स्थान प्राप्त नहीं है। कारण कि धर्म मानव-मानवमें भेद करना नहीं सिखलाता है और यदि किसी धर्मसे ऐसी शिक्षा मिलती हो तो उसके बराबर अधर्म दुनियामें दूसरा कोई नहीं हो सकता। हम गर्वपूर्वक कह सकते हैं कि जैन तीर्थंकरों द्वारा प्रोक्त धर्म न केवल राष्ट्रधर्म ही हो सकता है, अपितु वह विश्वधर्म कहलानेके योग्य है। परन्तु छुआछूतके इस संकुचित दायरेमें पड़कर वह एक व्यक्तिका भी धर्म कहलाने योग्य नहीं रह गया है, क्योंकि यह भेद न केवल राष्ट्रीयताका ही विरोधी है, बल्कि मानवताका भी विरोधी है और जहाँ मानवताको स्थान नहीं, वहाँ धर्मको स्थान मिलना असम्भव ही है।

यद्यपि ये सब दोष जैन समाजके समान अन्य धार्मिक समष्टियोंमें भी पाये जाते हैं, परन्तु प्रस्तुत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेख केवल जैन मान्यताके अनुसार प्रतिपादित धर्मके बारेमें लिखा गया है। इसलिए दूसरी धार्मिक समष्टियों-की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। हमें आश्चर्य होता है कि क्या जैन समष्टि और क्या दूसरी धार्मिक समष्टियाँ, सभी अपने द्वारा मान्य धर्मको ही राष्ट्रधर्म तथा विश्वधर्म कहनेका साहस करती हैं, परन्तु उनका धर्म किस ढंगसे राष्ट्रका उत्थान एवं विश्वका कल्याण करनेमें सहायक हो सकता है और हमें इसके लिए अपनी वर्तमान दुष्प्रवृत्तियोंको दूर करनेके लिये कितने प्रयासकी जरूरत है, इसकी ओर किसीका भी लक्ष्य नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org